प्रारंभिक स्तर पर संगीत शिक्षण

❑ सुमन यादव

प्रारंभिक स्तर पर संगीत शिक्षण के पक्ष में अनेक तर्क दिये जाते हैं परन्तु इस स्तर पर संगीत शिक्षण की वास्तविक स्थिति इसे एक सदेच्छा भर ठहराती है। संगीत शिक्षण के दायरे में सभी बच्चों को लाना असल में एक चुनौती भरा काम है । शिक्षण विषयक अन्य पहलुओं की भांति इस चुनौती से दो चार होने का दारोमदार भी शिक्षकों के ऊपर है । यह लेख प्रारंभिक स्तर पर संगीत शिक्षण की महत्ता, इसकी प्रकृति और अधिगम प्रक्रिया की सामान्य अवधारणाओं का विवेचन प्रस्तुत करता है। साथ ही सीखने की प्रक्रिया और सीखने में अभयास, प्रयत्न एवं व्यवस्था पर की गई टिप्पणियां संगीत शिक्षण तक की सार्थकता हों ऐसा नहीं है । सीखने पर यह नजरिया आजकल प्राथमिक शिक्षा के विमर्श में कम देखने को मिलता है।

विद्यार्थी जीवन में बाल संगीत शिक्षा की आवश्यकता को अरस्तू, महात्मा गांधी, रवीन्द्र नाथ टैगोर आदि अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है ।[1] अरस्तू ने संगीत को शिक्षा में चरित्र निर्माण की दृष्टि से एक अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकारा है । वैदिक साम संगीत हो या मध्यकालीन भक्त कवियों और मुगल दरबारों का संगीत, मानव ने अपनी अनुभूतियों को संगीत के माध्यम से भिन्न भिन्न कालों में परिवर्तित और परिवर्द्धित होती विभिन्न गायन शैलियों के माध्यम से संप्रेषणीय बनाया है ।

आज जहां हमारी शिक्षण संस्थाओं में विज्ञान एवं समाज विज्ञान के अनेक विषयों का अध्यापन होता है वहीं पर कहीं कहीं संगीत को भी पाठ्यक्रम में विषय के रूप में स्थान दिया गया है । परन्तु कुछ अपवाद यदि छोड़ भी दें तो भी अधिकांश शिक्षण संस्थानों में संगीत सिखाने के पक्ष में अनेक तर्क तो दिये जाते हैं परन्तु सीखने के वास्तविक उद्देश्य की ओर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया जाता । बालक के सही अर्थ में शिक्षित होने व उसके सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण घटक संगीत के प्रति समाज का दृष्टिकोण उदासीनता का है । समाज संगीत को शिक्षा का आवश्यक अंग न मानकर, इसे आभूषण और अलंकरण से अधिक महत्व नहीं देता। कुछ विद्वानों के भ्रान्तिमय तर्क, जैसे - कक्षा में विषय के रूप में सीखे हुए संगीत से, पाठ्येत्तर संगीत अधिक अच्छा है या लाभदायक होता है, कक्षा में सीखे हुए संगीत की महत्ता को कम करता है ।

जीवन के समान कला में भी विभिन्न तत्व होते हैं, जैसे - निरन्तर प्रवाह, वातावरण के अनुरूप ढलना, असन्तुलन-संतुलन, आरोह-अवरोह, तनाव-मुक्ति, एकदम से उत्तेजित होना अथवा संचय करना, आवश्यकता पूरी करना इत्यादि । इस प्रकार कोई भी प्राकृतिक अथवा कलात्मक विद्या जिसमें चाहे मतैक्य ना भी हो मगर वह मनुष्य की तनाव मुक्ति में सहायक है तो वह सौन्दर्यानुभूति को जन्म देगी । इस प्रकार उच्च सौंदर्यबोध-कला का आस्वादन और जीवन में इसकी उपयोगिता को देखते हुए संगीत का व्यवस्थित शिक्षण अनिवार्य है ।

प्रारंभिक संगीत शिक्षा के संदर्भ में स्वर का विशेष महत्व है। इनका स्वरूप अमूर्त है, जो दिखाई नहीं पड़ते, इनके स्वर-स्थान का निर्माण काल्पनिक बिंबों के माध्यम से होता है और इन अमूर्त काल्पनिक बिंबों का प्रत्यक्षीकरण कर, वाणी द्वारा उन्हें वांछित स्वर रूप प्रदान करना काफी कठिन कार्य है । जिस प्रकार अन्य विषयों के शिक्षण में दृश्य माध्यमों का उपयोग सीखने की प्रक्रिया को सरल बनाता है ठीक उसी प्रकार संगीत शिक्षण में 'ताल' एक मूर्त सहयोगी सामग्री की भूमिका निभाती है। बाल गीतों (नर्सरी राइम्स) की रचना इसी भाव को केन्द्र में रखकर की जाती है । 1-2, 1-2 के समरस तालाघात में सरल स्वरों में आबद्ध कर बच्चे के अनुभव संसार की परिधि के अर्न्तगत आने वाले किस्से या कविता में गूंथ कर जब कोई बालगीत उन्हें सिखाया जायेगा तो वे उसे सहज ही ग्रहण कर लेंगे ।

इन गीतों की रचना में सबसे ध्यान रखने योग्य बात यह है कि हर तालाघात (बीट) का वजन बराबर का हो, और शब्द रचना में प्रत्येक शब्द तालाघात पर ही हो, अनाघात (ऑफ बीट) पर नहीं। प्रारंभिक स्तर पर बच्चा ताल का ही प्रतिवादन (रेस्पॉन्ड) करता है। कथानक के प्रवाह में बहते, कथानक के पात्रों में स्वयं को ढूंढते ताल से ताल मिलाते वे तन्मय हो, हर तालाघात (बीट) पर मोड लेने वाले स्वरों को अपने में आत्मसात कर लेते हैं । इस प्रकार उन्हें अलग से स्वर नहीं सिखाने पड़ते । बालकों को यदि कहा जाए

1. संगीत कला विहार, सितम्बर 1983 एच. के. भण्डार, खमगाँव

कि 'सा' की फ्रीक्वैन्सी यदि 240 मानी है तो 'रे' की 270 और इसी प्रकार क्रमश: अन्य स्वरों की, तो वे कुछ भी नहीं समझ पाएंगे। किसी भी ज्ञान के सफल शिक्षण की पहली शर्त है सीखने वाले के स्तर का सही आंकलन कर उसे ग्रहणीय बनाना।

संगीत की सृष्टि ध्वनि के उतार चढ़ाव के अमूर्त बिंबों के माध्यम से होती है, उसमें बालक के मन मस्तिष्क में सही बिंबों का निर्माण करवा पाना एक दुष्कर कार्य है, विशेषतया गायन में । फिक्स ट्यूनिंग वाले वाद्य जैसे हारमोनियम, काष्ठ तरंग, की बोर्ड आदि में तो फिर भी मूर्त रूप में कुछ दिखाया जा सकता है कि ये 'सा' है, ये 'रे' है 'ग' है आदि। परन्तु इनमें भी आरंभिक ज्ञान अर्जन में तो भले ही यह (दृश्य सामग्री) थोड़ी सहायक हो जाये परन्तु आगे चल कर हिन्दुस्तानी संगीत की सूक्ष्मताओं को समझने के लिए तो राग के प्रत्यक्षीकरण के अलावा कोई और विकल्प हो ही नही सकता । इसके लिये हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की प्रकृति का अध्ययन करें तो बात समझ पायेंगे।

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की प्रकृति पूर्णत: सृजनात्मक है, पाश्चात्य शास्त्रीय संगीत की तरह यह पूर्वरचित (प्री-कम्पोस्ड) रचना का पुनरुत्पादन मात्र नहीं है । यहां पर कलाकार अपनी प्रतिभा और सृजनात्मक कल्पना से राग बनाता है। राग के नियमों का सम्मान कर, उनके स्वरूप को कायम रखते हुए उसकी बढ़त में अपनी कल्पना के स्वर गुच्छ व सूझ बूझ भरे विशिष्ट स्वर संयोजन द्वारा राग की अपनी तरह से मौलिक सर्जना करता है जो पूर्णत: उसकी निजी कृति कही जा सकती है । अर्थात राग की एक स्थूल, परन्तु निश्चित शक्ल उसे अपने गुरू से प्राप्त होती है जिसे अपने रस-भाव व बुद्धि से वह सींचता है ।

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की प्रकृति से संबंधित दूसरी अत्यंत महत्वपूर्ण बात है रागों की विशिष्ट पहचान बनाने में स्वरों के विशिष्ट लगाव का निर्धारक कारक होना । स्वर की बारीकियां- अति कोमल, अति तीव्र आदि - जो पूरी रागदारी का आधार है, को लिख देने भर से वह फलीभूत नहीं हो सकती । राग दरबारी का आन्दोलित कोमल गंधार और राग मियां मल्हार का आन्दोलित कोमल गंधार किस प्रकार एक दूसरे से भिन्न है, यह लिख कर बताना असंभव है । स्वरों का व्यवहार (ट्रीटमेंट) हिन्दुस्तानी संगीत की सबसे बड़ी विशेषता है । राग को बरतना कैसे होगा, किस प्रकार का स्वर लगाव उसे (राग को) अपेक्षित व्यक्तित्व प्रदान करेगा, यह स्वर लगाव से ही निश्चित किया जाता है । इसीलिए इसे गुरुमुखी विद्या माना गया, जिसे किसी गुरू के बिना सीखना असंभव है। क्योंकि हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत ज्ञान के भंडारण और उसके निष्कासन मात्र की क्रिया न होकर गहन चिंतन, सूझबूझ और मौलिक सृजन की अपेक्षा रखता है ।

आज संगीत का जो परिदृश्य हमारे सामने हैं उससे यदि भविष्य की परिकल्पना करें तो पाएंगे कि शास्त्रीय संगीत यदि सर्व साधारण की पहुंच में रहेगा तो केवल विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के बल पर । यह कहना भी नितान्त भ्रामक है कि संगीत विद्यालय केवल ज्ञान देकर संगीत की जानकारी मात्र ही दे सकते हैं प्रदर्शनात्मक कला नहीं । यदि योग्य शिक्षक उपलब्ध है और अपने प्रदर्शन को अनुकरणीय बनाने की योग्यता रखता है तथा योग्य विद्यार्थी भी है तो कोई कारण नहीं कि वह विद्यार्थी को कलाकार बनने के योग्य न बना पाये ।

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत, विद्वान मनीषियों द्वारा वर्षों से संचित, पोषित, संस्कारित एवं अभिवृद्धित ऐसी कला है जिसके सम्प्रत्ययीय अर्थ में एक वृहत सांगीतिक संगठन का अवबोध होता है, जो कि कुछ घटकों का योग न होकर, एक व्यवस्थित व सुसंबद्ध संरचना है । राग की प्रस्तुति के अपने नियम हैं, रागों के प्रस्तुतिकरण की विविध शैलियां हैं यथा - ध्रुवपद, खयाल, ठुमरी, टप्पा, तराना आदि । इन सभी की अपनी निजी विशिष्टताएं हैं जो इन्हें एक शैली विशेष का स्वरूप प्रदान करती हैं ।

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की प्रकृति को देखते हुए इसके शिक्षण की व्यवस्था प्रारंभिक स्तर से ही आरंभ कर देनी चाहिये । 14-15 वर्ष तक के बालकों के पाठ्यक्रम की योजना ऐसी होनी चाहिये जिसमें सामान्य व प्रतिभाशाली दोनों प्रकार के बालकों की आवश्यकता की पूर्ति हो सके । वे विद्यार्थी जो केवल प्रकृति प्रदत्त रुचि के पोषण, सौन्दर्य-बोध और भावात्मक तुष्टि हेतु ही संगीत सीखना चाहते हैं या वे विद्यार्थी, जो गंभीरता से इस ओर प्रवृत हों, इसी (संगीत) को अपना कर्म क्षेत्र बनाना चाहते हैं । सरल सामान्य बाल गीत, अंचल के लोकगीत जिनसे नई पीढ़ी परिचय प्राप्त कर अपनी सांस्कृतिक धरोहर को जीवित रख सके और उस तरह के गीत सुनने की रुचि विकसित कर सके, भजन व शास्त्रीय संगीत के सरल प्रकृति के कुछ राग जैसे यमन, भूपाली, अल्हैया बिलावल, वृन्दावनी सारंग, मालकौंस आदि पाठ्यक्रम में शामिल किये जा सकते हैं ।

पाठ्यक्रम सरगम, लक्षण गीत, प्रत्येक की 3-3, 4-4 बंदिशें, कुछ अलाप तान भी शामिल हो सकते हैं। इसी प्रकार कुछ धुन प्रधान रागें जैसे - भैरवी, देस आदि । इनमें भी कुछ बंदिशें अथवा गीत सिखाए जा सकते हैं जिन्हें बच्चे शीघ्रता से ग्रहण करेंगे क्योंकि लोक गीतों के माध्यम से उन्हें इन रागों का परिचय प्राप्त हो चुका होता है (राजस्थानी लोक गीत भैरवी और देस में अधिकांश सुनने को मिल जाते हैं)। केवल रुचि परिमार्जन हेतु सीखने वाले विद्यार्थियों के लिए भी इस प्रकार का राग शिक्षण लाभदायक ही रहेगा । प्रथम तो यह कि किसी भी विद्या के परिचय के बाद ही उसके आस्वादन, पसन्द अथवा नापसन्द का सवाल उठता है, दूसरा - इसलिए कि एक अच्छे संगीत के श्रोता के संस्कार तो प्राप्त किए ही जा सकते हैं ।

प्रारंभिक स्तर पर शिक्षक, विद्यार्थी की क्षमता के अनुरूप स्वरों व अलंकारों का अभ्यास कराएं । जिस प्रकार वर्णमाला के अक्षरों के क्रम बदल कर उनकी सही पहचान कराई जाती है, उसी प्रकार स्वरों के ऊँचे-नीचे व शुद्ध-कोमल स्वर स्थानों के बिंबों को पहचानने की क्षमता में वृद्धि की जा सकती है। कुछ सरगम जो रोचक भी हों और खेल की तरह, वे इन्हे कभी अकेले और कभी बाँट कर गाएं तो गले की तैयारी के साथ मानसिक तत्परता भी बढ़ेगी । एक सरगम उदाहरणार्थ प्रस्तुत है[2] -

1. धनि रेग, मध निरें, सांनि धप मंग रेसा
2. निध निरे गमं धनि रेसां निध पमं गमं
3. सानि धनि रेग मेध निरें सांनी धप मंग
4. रेसा निध निरे गमं धनि रेंसां निध पमं
5. गरे सानि धनि रेग मंध निरें सांनी धप
6. मंग रेसा निध निरे गमं धनि रेसां निध
7. पमं गरे सानि धनि रेग मंध निरें सांनी
8. धप मंग रेसा निध निरे गमं धनि रेंसां
9. निध पमं गरे सानी धनि रेग मंध निरे
10. सांनी धप मंग रेसा निध निरे गमं धनि
11. रेसां निध पंमं गरे सानी धनि रेग मंध
12. निरें सांनी धप मंग रेसा निध निरे गमं
13. धनि रेंसां निध पमं गरे सानी धनि रेग
14. मध निरें सांनी धप मंग रोस निध निरे
15. गमं धनि रेंसां निध पमं गरे सानि धनि
16. रेग मंध निरे सांनी धप मंग रेसा निध
17. निरे गमें धनि रेंसां निध पमं गरे सानि
18. धनि रेग मंध निरे सांनी धप मंग रेसा

वैचारिक प्रौढ़ता द्वारा किसी भी कला कर्म को उसके अनुपात में बरतने की क्षमता प्राप्त करना कला कर्म के चरमोत्कर्ष की अवस्था होती है जिसे कलाकार सतत साधना और वैयक्तिक गुणों से विकसित करता है । किसी भी स्थापित कलाकार के 10-15 वर्ष के कला प्रदर्शन का निरीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि प्रारंभिक वर्षों के लगभग सभी मंचीय प्रदर्शनों (परफोरमेन्सेस) में कलाकार की अभ्यास-जन्य तैयारी का बाहुल्य रहता है जो कि आने वाले वर्षों में क्रमश: संगीत के आनुपातिक प्रदर्शन की ओर अग्रसर होता हुआ, एक सुगढ़ कलात्मक सौष्ठव की सृष्टि करने की क्षमता अर्जित करता है।

ऐसी कठिन साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट होने के जिज्ञासु यदि 14 वर्ष की उम्र तक शास्त्रीय संगीत के बारे में कुछ भी नहीं जान पायें तो इसे विडम्बना ही कहा जायेगा । जहां उसे अमूर्त (संगीत) में निर्बाध उड़ान भरने की साधना करनी है, जहां उसे अपने दिमागी सोच और सोच की अनुपालना तुरन्त अपने कंठ से करवाने की कठिन कंठ-साधना करनी होती है, जिस आयु में विद्यार्थी का गामक विकास (मोटर डवलपमेंट) तीव्रता से हो रहा होता है ऐसे समय में विषय से संबंधित शिक्षण का अनुपलब्ध होना एक बड़ी हानि कही जायेगी ।

कतिपय विद्वानों के अनुसार विद्यालयों, महाविद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयों में कलाकार नहीं बनाये जा सकते । उनके विचार में जिन्हें कलाकार बनना है या रागों की गहन जानकारी प्राप्त करनी हे वे निजी तौर पर किसी गुरू से सीखें, यह एक भ्रामक धारणा है। किसी भी कार्य के वांछित परिणाम प्राप्त करने के लिये उसकी सही योजना और योग्य पात्रों द्वारा उनके क्रियान्वयन की सुविधा आवश्यक है । आज संगीत का जो परिदृश्य हमारे सामने हैं उससे यदि भविष्य की परिकल्पना करें तो पाएंगे कि शास्त्रीय संगीत यदि सर्व साधारण की पहुंच में रहेगा तो केवल विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के बल पर । यह कहना भी नितान्त भ्रामक है कि संगीत विद्यालय केवल ज्ञान देकर संगीत की जानकारी मात्र ही दे सकते हैं प्रदर्शनात्मक कला नहीं । यदि योग्य शिक्षक उपलब्ध है और अपने प्रदर्शन को अनुकरणीय बनाने की योग्यता रखता है तथा योग्य विद्यार्थी भी है तो कोई कारण नहीं कि वह विद्यार्थी को कलाकार बनने के योग्य न बना पाये । आवश्यकता है विषय की विशेषज्ञता के आधार पर शिक्षकों के चयन व शिक्षणानुकूल वातावरण की । आज जो कलाकार सितारों की श्रेणी में गिने जाते हैं उनके पास समय नहीं है - किसी को सिखाने का । व्यस्त कार्यक्रमों और अपने निकट

2. श्री अमिताभ मिश्र (दिल्ली) से साभार

परिजनों को सिखाने के बाद यदि वे कोशिश भी करें तब भी जितने समय शिक्षण वो दे पायेंगे उससे शायद ही कोई लाभ उठा सके। कुछ संपन्न शार्गिद ही यदा कदा इस प्रसाद को पा जाते हैं, परन्तु एक साधारण और गैर-सांगीतिक पृष्ठभूमि से आने वाले संगीत जिज्ञासु के लिए सीखने के अवसर शून्य के बराबर हैं, हालांकि कुछ कलाकार इसका अपवाद भी कहे जा सकते हैं। अभिप्राय: केवल यही है कि आज के संदर्भ में विद्यालयों व विश्वविद्यालयों में संगीत शिक्षण की व्यवस्था एक अनिवार्य आवश्यकता है ।

यदि संगीत व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की आवश्यकता है, उसके सौंदर्य बोध को पुष्ट कर सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति का माध्यम है, रुचि परिमार्जन कर सुसंस्कृत बनाता है, कोमलतम भावों के आवेष्टन द्वारा उसे मनुष्य मात्र के मांगलिकरण की सोच प्रदान करता है तो ईश्वर का यह प्रसाद केवल कुछ बालकों के लिए ही न होकर सभी के लिए सुलभ होना चाहिये।

शिक्षक और शिक्षार्थी ज्ञान अर्जन के क्षेत्र में मुख्य घटक हैं, जिनकी सतत अन्योन्याश्रित क्रियाओं पर समग्र ज्ञान की अपेक्षाएं किसी निष्कर्ष को प्राप्त होती हैं। शिक्षक और शिक्षार्थी आत्म चेतना व वैचारिक क्षमता से युक्त जीवित इकाइयां हैं जिनका व्यवहार उनके समस्त भौतिक-सांस्कृतिक-सामाजिक वातावरण, आन्तरिक अभिरूचि, शारीरिक मानसिक वृद्धि आदि तत्वों के साथ के साथ निरन्तर प्रतिक्रियाएं करते हुए गतिशील रहता है। ये (शिक्षक और शिक्षार्थी) कोई जड़ पदार्थ नहीं है जिनके व्यवहार की कोई निश्चित पूर्व कल्पना की जा सके । संगीत सीखने की 'प्रक्रिया' में व्यक्तित्व के ये घटक प्रभावशाली भूमिका का निर्वहन करते हैं ।

संगीत शिक्षण की प्रक्रिया में शिक्षार्थी के दो महत्वपूर्ण उद्देश्य पहला ज्ञानार्जन व दूसरा कौशल प्राप्ति पूरे होते है। संगीत के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट पहचान बनाने वाले संगीतज्ञों के पीछे होता है उनका सृजनात्मक चिन्तन। भाव व बुद्धि के सामंजस्य से किस प्रकार विविधांगी कल्पना के आयामों को कब किस कोण से प्रस्तुत करना होगा, यह सब उनकी गहन सूझबूझ और रागदारी के विस्तृत ज्ञान पर निर्भर करता है।

जब संगीत सीखने अथवा सिखाने की सही प्रक्रिया की बात आती है तो ऐसी भ्रांति हो सकती है कि यह वो प्रक्रिया है, जिसके द्वारा किसी भी व्यक्ति को किसी भी परिस्थिति में कलाकार बनाया जा सकता है, परन्तु ऐसा नहीं है । सिखाने की विधि या प्रक्रिया का कोई ऐसा निश्चित आकार नहीं होता । बालक का सीखना उसकी वर्तमान उद्दीपन परिस्थतियों के परिणाम स्वरूप होता है और इन उद्दीपन परिस्थितियों में होने वाला परिवर्तन सीखने की मात्रात्मक व गुणात्मक प्रगति को निर्धारित करता है । विद्यार्थी के आन्तरिक व बाह्य वातावरण के विभिन्न तत्वों का अध्ययन, उनकी एक दूसरे की शून्यता में न करके व्यक्तित्व के किसी भी संघटक को उसकी संपूर्णता में ही देखकर करना चाहिये।

किसी भी विषय के शिक्षण के लिये उस विषय के अनुरूप शिक्षण प्रक्रिया अपनाई जाती है । कोई भी संगीतज्ञ अथवा शिक्षाशास्त्री अधिगम (लर्निंग) को प्रभावित करने वाली स्थितियों और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में अधिगम के प्रभावी कारकों को एकत्रित कर उनका सामान्यीकरण करते हैं । सिद्धांतों का प्रतिपादन कर उसे नियमों में संगठित कर परिभाषित करने का प्रयास करते हैं जो मोटे तौर पर 'सीखने' का वैज्ञानिक विवरण या व्याख्या बन जाते हैं ।

संगीत शिक्षण की प्रक्रिया में शिक्षार्थी के दो महत्वपूर्ण उद्देश्य पहला ज्ञानार्जन व दूसरा कौशल प्राप्ति पूरे होते है । संगीत के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट पहचान बनाने वाले संगीतज्ञों के पीछे होता है उनका सृजनात्मक चिन्तन। भाव व बुद्धि के सामंजस्य से किस प्रकार विविधांगी कल्पना के आयामों को कब किस कोण से प्रस्तुत करना होगा, यह सब उनकी गहन सूझबूझ और रागदारी के विस्तृत ज्ञान पर निर्भर करता है । तभी कुछ कलाकारों का एक राग जब भी सुनो सदैव एक ही लगता है जबकि एक चिंतनशील कलाकार के हर प्रदर्शन में (चाहे राग वही हो) नई सुंगध और ताजगी होती है । गतानुगति का पथ छोड़ जो कलाकर अपने पंखों पर उड़ने और सौन्दर्य को अपनी आंख से देखने की क्षमता विकसित कर लेता है उसी की कला चिरजीवी हो पाती है। ठीक इसी प्रकार कौशल अर्जन के लिये भी कहा जा सकता है, कि व्यक्ति का सोच तो बहुत विकसित है परन्तु उसे व्यक्त करने के माध्यम (कंठ अथवा वाद्य) पर अधिकार नहीं तो वह निरर्थक है। इस प्रकार रागदारी व गायकी का सही ज्ञान व उसे प्रदर्शित करने की योग्यता अर्जित किए बगैर संगीत शिक्षण को फलदायी नहीं कहा जा सकता।

ज्ञार्नाजन के अन्तर्गत प्रत्यक्षीकरण (परसेप्सन) प्रत्यय ज्ञान (कंसेप्सन), साहचर्य से सीखना (एसोसियेटिव लर्निग), रसानुभूति (एप्रिसियेशन) आदि का समावेश होता है ।

ज्ञानार्जन का तत्व 'प्रत्यक्षीकरण' वस्तुत: प्रत्यक्ष ज्ञान संवेदन के बाद की अवस्था है। संवेदना शुद्ध इन्द्रिय ज्ञान होता है जिसका हमारे पूर्व अनुभवों से कोई साफ संबंध नहीं होता । हम वस्तु को देखते हैं, स्पर्श करते हैं, सुनते हैं पर किसी निर्णय पर नहीं आ पाते। जब हम पुराने संस्कारों द्वारा निर्णयावस्था पर पहुंच जाते हैं तो वह प्रत्यक्षीकरण होता है । इसे ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं । उदाहरणार्थ किसी का गायन सुनकर राग पहचानना, किसी वाद्य की ध्वनि सुनकर बताना कि यह सितार है, सरोद या कोई अन्य वाद्य । इस प्रकार किसी भी 'संवेदना' को उसमें निहित पूर्ण अर्थ के साथ ग्रहण करने को ही प्रत्यक्षीकरण कहा गया है । पूर्ण अर्थ, अर्थात उस ध्वनि के प्रत्येक संभव स्वरूप को समझ कर उसका अर्थ कायम करते हुए एक निश्चित पहचान देना । इस प्रकार गायन सुनना, श्रवण संवेदना हुई । अर्थात कोई ध्वनि सुनाई दी, तदुपरान्त अपने पूर्वानुभव के आधार पर जब इस निर्णय पर पहुंचे कि शास्त्रीय गायन है और गाया जाने वाला राग यमन है तो यह प्रत्यक्षीकरण हुआ, जो कि पूर्व के सीखे हुए शास्त्रीय संगीत के ज्ञान के फलस्वरूप हुआ। इस प्रकार प्रत्येक शिक्षण का आधार प्रत्यक्षीकरण होता है।

ज्ञानार्जन का दूसरा तत्व प्रत्यय या संकल्पना ज्ञान (कंसेप्सन) है जो कि प्रत्यय अथवा सामान्य विचारों के रूप में होते हैं तथा किसी विशेष प्रत्यक्षीकरण के उच्च स्तर पर होते हैं । प्रत्यक्षीकरण द्वारा हमें विशिष्ट परिस्थितियों अथवा कुछ रागों का ज्ञान होता है। प्रत्यय में सामान्य अथवा सार्वभौमिकता या जाति का बोध होता है। जैसे प्रत्यक्षीकरण में विद्यार्थी 'नि रे ग म प ध नि सां । सां नि ध प मं ग रे सा ।' इस आरोह-अवरोह क्रम में यमन की विशिष्ट स्वर संगतियों, चलन, प्रकृति आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है और इसके अनुसार इस राग के निर्वहन में समर्थ होता है। जब वही विद्यार्थी बहुत सारी रागें सीख लेता है, तो उसकी राग की अवधारणा (कन्सेप्ट आफ राग) निश्चित हो जाती है एवं राग के प्रस्तुतिकरण को लेकर वह सामान्य प्रत्यय निर्माण करता है कि खयाल गायन शैली में उसे पहले कुछ आलाप, फिर बंदिश, आलाप, बोलालाप, सरगम, लयकारी, बोलतान, तान आदि को प्रस्तुत करना है ।

इसी प्रकार साहचर्य से सीखने (एसोसियेटिव लर्निंग) से तात्पर्य यही है कि विभिन्न प्रत्ययों में ऐसे संबंध स्थापित किए जाएं कि जब एक प्रत्यय का पुन: स्मरण (रिकॉल) किया जाये तो अन्य प्रत्यय जो कि उससे संबंधित है वह सब भी पुन: स्मृति में आ जायें और उनकी पहचान (रिकॉल) हो जाए । इस प्रकार का सीखना स्मृति के अन्तर्गत ही आता है। किस प्रकार विभिन्न प्रत्ययों में साहचर्य स्थापित किया जाए कि उसके द्वारा सीखना सुगम हो सके। उदाहरणार्थ - सा रे ग म प ध नि सां । सां नि ध प म ग रे सा। इस आरोह अवरोह क्रम को सीखने पर हमें ज्ञान हुआ कि सा से रे, रे से ग, ग से म, क्रमश: ऊंचे होते जा रहे हैं, ठीक इसी प्रकार तार सा से मध्य नी, नी से ध, ध से प क्रमश: नीचे होते जा रहे हैं। इस प्रकार हमें स्वरों के ऊँचे और नीचे होने के क्रम का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हुआ । अब इन स्वरों से हमने 'अलंकार' सीखे, तत्पश्चात किन्ही एक, दो अथवा तीन अलंकारों को मिला कर हमनें तान बनाई एवं एक सामान्य प्रत्यय का निर्माण किया कि अलंकार की सहायता से तान बनाई जा सकती है । अत: जब भी हम इस तान का पुनर्स्मरण करेंगे तो यह तान तो गा ही लेंगे, साथ ही वे अलंकार जो कि इन अलंकारों (जिनके द्वारा यह तान निर्मित है) के साथ सीखे थे, वे भी याद आ जायेंगे जिनकी सहायता से दूसरी अनेक तानों का निर्माण संभव है । इस प्रकार साहचर्य स्थापित कर ज्ञान की अभिवृद्धि की जा सकती है ।

इसी प्रकार जब किसी भावुकतापूर्ण वर्णन द्वारा प्रभावित होकर हम भावों, आदर्शों, मनोवृत्ति आदि का रसानुभूतिपरक ज्ञान प्राप्त करते हैं तो वह रसानुभूति कहलाता है । ज्ञानोपार्जन की यह विधि भावात्मक तत्व पर निर्भर होती है, उदाहरणार्थ-यमन की यह बंदिश :

करम करो करतार, तुम परवार, गरीब नवाज ।

दाता दीनों के तुम हो कृपालु, बख्श दीनों मोपे ज्ञान ।।

उपरोक्त बंदिश को गुरु मुख से कविता के भावानुकूल राग के प्रवाह में अगर विद्यार्थी तन्मयता व गंभीरता से सुनता है तो राग व कविता के सम्मिश्रण की प्रतिक्रिया स्वरूप उसमें ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम, निष्ठा और अटूट विश्वास उपजता है जिसमें लीन हो वह उस अनंत सत्ता से अपने को जोड़ लेता है। यह भक्तिभाव का उदाहरण है, इसी प्रकार अन्य भाव हो सकते हैं यथा करुणा, वात्सल्य आदि । इस प्रकार के सीखने का अर्थ यह है कि गुरू एवं विद्यार्थी का इस प्रकार का भावात्मक एवं संवेगात्मक तादात्मय स्थापित हो जाता है कि गुरु द्वारा संप्रेषित विशिष्ट रस अथवा भाव को विद्यार्थी अर्जित कर भावात्मक ज्ञान प्राप्त करता है ।

संगीत सीखने का दूसरा उद्देश्य कौशल अर्जन है । इसके अन्तर्गत सभी प्रकार का रियाज, श्वास नियंत्रण, खरज, साधना, आवाज का सही लगाव, शब्दों का सही उच्चारण, तानें-पलटें आदि को रख सकते हैं । कौशल अर्जन की प्रक्रिया में गामक विकास (मोटर डवलपमेंट) की अवस्थाएं प्रभावी भूमिका का निर्वाह करती हैं। गामक शक्तियों का विकास बालिकाओं में अपने चरम बिंदु पर चौदह वर्ष की आयु में और बालकों में सत्रह साल की

आयु तक होता रहता है । गामक कौशल का विकास बालक में सामान्य से विशिष्ट कार्य की ओर होता है।[3] तदुपरान्त वह ऐसे कार्यों को सीखना चाहता है जो सामान्य और विशेष कार्यों का मिश्रण हो, अर्थात सरल से कठिन और कठिन से जटिल । जैसे - नृत्य में बालक पहले हाथ की मुद्राएं ही बनाता है, फिर धीरे धीरे पदचालन फिर थोड़ी थोड़ी दूर चलता है या घूमता है, तत्पश्चात इन समस्त क्रियाओं का एकीकरण करके, जिन्हें वह पहले सीख चुका है, समन्वित रूप से हाथ, पैर, गति, लय और भाव द्वारा उसे नृत्य का रूप प्रदान करने की चेष्टा करता है। इस तरह मांसपेशीय संतुलन में उतरोत्तर वृद्धि होती रहती है और उनकी गतिवाही शक्तियों में भी अन्तर बढ़ता जाता है । अत: संगीत शिक्षण में विषय क्रम एवं शिक्षण विधि का कौशल व चातुर्य पूर्ण मिश्रण मानसिक और शारीरिक अभिवृद्धि के अनुरूप होना चाहिये ।

जिस प्रकार संगीत शिक्षण में स्वरों के मानसिक बिंबों की सही परिकल्पना एवं स्वराकृति संपुष्ट न होने तक स्वर लिपि का प्रशिक्षण अनपेक्षित है, उसी प्रकार स्वर लिपि को पढ़ कर गाने के लिए किसी आयु विशेष अथवा स्तर को जड़ मानक (रिजिड स्टेण्डर्ड) बनाना भी उचित नहीं कहा जा सकता । क्योंकि किसी भी स्वर लिपि को पढ़ कर गाने की प्रक्रिया ऐसी नहीं है जिसका परिचय किसी आयु विशेष छः, सात या आठ में अचानक पहली बार में ही करवा दिया जाय, और विद्यार्थी उसे एकदम से गा सके, वरन इसकी अभिक्रमित शुरूआत प्रारंभ में कुछ स्वरों, छोटी स्वरावलियों से करके क्रमशः जटिल स्वर-लिपि की ओर विद्यार्थी की प्रायोगिक अभिक्षमता की पृष्ठभूमि में ही निश्चित की जा सकती है ।

विद्यार्थी का सीखने का संपूर्ण शिक्षण क्रम इसी अभिक्रमित एवं सतत विकासोन्ममुखी प्रक्रिया के रूप में चलता रहता है। जिसमें प्राथमिक शिक्षण की अनिश्चितता अथवा अस्पष्ट विचारणा, बालक के मौलिक तथ्यों की जानकारी के विकास के साथ साथ संवर्द्धित हो स्पष्ट एवं निश्चित स्वरूप ग्रहण करने लगती है । तदनुसार संपूर्ण शिक्षण का पुनर्गठन (रिशेपिंग) विभिन्न स्तरों पर विभिन्न चरणों में आवश्यक है । ऐसा संभव नहीं है कि खण्डों में विभाजित करके किसी विषय को, एक निश्चित अवधि में ही समाप्त करके उसे पूर्ण प्रशिक्षण मान लिया जाये । जैसा कि मैंने पहले भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि प्रशिक्षण सदैव संपूर्ण से खंड, सामान्य से विशेष, ज्ञात से अज्ञात, ऐन्द्रिय से सत्व (एब्स्ट्रेक्ट), ध्वनि से संकेत (सिम्बल) एवं सरल से संश्लिष्ट (कॉम्पलेक्स) के निरन्तर विकासमान स्तरों पर फलीभूत होता है । यद्यपि किसी भी ज्ञान के विस्तार के लिये उसमें अधिकाधिक जानकारियां जुड़ती रहती हैं तथापि यह जानकारियों का जुड़ना कोरी योग की प्रक्रिया (एडिटिव प्रोसेस) नहीं है वरन् ऐसा अभिक्रमित पुनर्निर्माण (रिकन्स्ट्रक्शन) है जिसमें पहले से प्राप्त जानकारी अथवा ज्ञान का नवीनीकरण, समृद्धिकरण होता है । विषय के प्रति सूक्ष्म दृष्टि एवं गांभीर्य की अभिवृद्धि होती है, जैसे - राग यमन। प्रारंभिक शिक्षा में राग यमन विद्यार्थी को सिखाया जाता है और उच्च शिक्षा (एम.ए.) तक वह राग पाठ्यक्रम में रखा जाता है, इसका तात्पर्य यही है कि प्रारंभिक शिक्षा के दौरान सीखे गये यमन में विद्यार्थी की ग्राह्यता अथवा मानसिक शारीरिक अवस्था उतनी प्रौढ़ नही होती कि वह राग के सूक्ष्म सौन्दर्य को समझ-बूझ कर साकार कर सके अथवा अपनी मौलिक सृजनात्मक कल्पना से उसे कोई नया रंग दे सके ।

विद्यार्थी के सीखने की गति सदैव एक सी नहीं होती । एक अवस्था ऐसी भी आ जाती है जब अभ्यास के बावजूद वह उन्नति नहीं कर पाता । विद्वानों ने इसे 'सीखने' के 'पठार' (प्लेटू) की संज्ञा दी है । इस स्थिति में शिक्षक व नई प्रेरक वृतियों के सहयोग से सीखने की क्रिया में वृद्धि देखी जा सकती है। परन्तु एक अवस्था ऐसी भी आती है जब कोई प्रेरक वृत्ति लाभ नहीं पहुंचाती जिसे विद्यार्थी की मानसिक एवं शारीरिक सीमा के नाम से जाना जाता है।

संगीत सीखने की प्रक्रिया में ध्वनि संवेदना एक महत्वपूर्ण घटक है । ध्वनि व श्रवण संवेदना संगीत सीखने की अनिवार्य शर्त है। किसी भी प्रकार के ध्वनि संवेदन दोष को संगीत के लिये गाह्य नहीं माना जा सकता । कई बार हम देखते हैं कि कुछ बालक समीप के दो स्वरों का अन्तर नहीं कर पाते। इसका कारण यह हो सकता है कि संगीत सीखना आने से पूर्व न तो उन्होंने ध्यान से सुनने का प्रयास किया हो और ना ही गंभीरता से उसके अनुकरण का । इस प्रकार की स्थिति में उनके कंठ को दोषपूर्ण कहना उचित नहीं है, यह भी हो सकता है कि वे श्रवण संवेदन अर्थात सुनना नहीं जानते। उनके कान इसके लिए तैयार नहीं है । इस प्रकार यह मस्तिष्क का

3. जी. डब्ल्यू. क्रान और एच. अन. प्रोन्टो, 'डवलपमेट ऑफ ए सेंस और बेलेंस इन स्कूल चिल्ड्रन', जर्नल ऑफ एजुकेशन रिसर्च, वोल्यूम 51, 1957 पृष्ठ 33-37

विकार है। इसके लिए कंठ अथवा कानों की बनावट को दोष देना उचित नहीं। यह दोष केवल सुनने (लिसनिंग) की क्रिया विकसित नहीं होना है।

इसी प्रकार सुर के सही न लगने (थोड़ा ऊंचा अथवा थोड़ा नीचा) का एक कारण कम अथवा अधिक बल प्रयोग भी हो सकता है, जिसे किसी भी दशा में कंठ, कान अथवा अन्य किसी शारीरिक दोष में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है । प्राय: विद्यार्थी स्वर लगाते समय अतिरिक्त बल का प्रयोग करते हैं, इस क्रिया से उनके माथे पर सिकुड़न अथवा भौहों का चढ़ जाना, मुट्ठियां भिंच जाना, चेहरा लाल हो जाना, जबड़े का कडे हो जाना, नसों का फूलना आदि होता है। इस प्रकार की शारीरिक क्रियाएं असहजता की सूचना है जिनकी प्रतिक्रिया स्वरूप स्वर चढ़ जाने की आशंका रहती है । इस कृत्रिम आवाज लगाव एवं अनावश्यक बल प्रयोग का प्रारंभिक स्तर पर सुधार आवश्यक है अन्यथा आदत का स्वरूप धारण करने के पश्चात इस दोष को दूर करना अत्यन्त श्रम साध्य व कठिन होता है ।

गायन अथवा वादन की बैठक (बैठने का ढंग) त्रुटिपूर्ण होने से उत्पन्न होने वाली दोषपूर्ण स्वरोत्पत्ति भी शारीरिक दोष न होकर उचित निर्देशन का अभाव है ।

अधिगम की प्रक्रिया का संबंध सीखने के साथ-साथ सीखी हुई सामग्री के 'स्थैर्य' से भी होता है । सीखना और रटना असंबद्ध नहीं है परन्तु सीखने के अपेक्षित परिणाम, 'अवबोध' के संदर्भ में, दोनों प्रक्रियओं में अन्तर पाया जायेगा । जिस प्रकार आरंभिक और माध्यमिक शाला में आयोजित शास्त्रीय संगीत प्रतियोगिता में बालक राग का चलन समझे बिना, शिक्षक के द्वारा दिये गये, रटे-रटाए आलाप तानों का ग्रामोफोन रेकार्ड की तरह अक्षरश: पुनरावर्तन कर देते हैं, जहां कठिन प्रकार के मिश्रित राग, जटिल तानों के साथ उचित अवबोध के बिना ही बालक रट लेता है वहां अधिगम आंशिक और अस्थाई रूप से ही फलीभूत होता है । इसी प्रकार किसी अन्य के कहने पर सीखने अथवा अधिक अंक प्राप्त करने के उद्देश्य से हुए अधिगम में स्वयं की अभिरुचि के रूप में 'स्वत: भूत' घटक की अनुस्थिति में, बाहर से आरोपित अधिगम सामग्री में स्थैर्य की आशा नहीं की जा सकती । सीखने की इच्छा और स्पृहा-धरातल (लेवल आफ एस्पिरेशन) उसकी सीखने की गुणात्मकता को निर्धारित करते हैं ।

विद्यार्थी के सीखने की गति सदैव एक सी नहीं होती । एक अवस्था ऐसी भी आ जाती है जब अभ्यास के बावजूद वह उन्नति नहीं कर पाता । विद्वानों ने इसे सीखने के 'पठार' (प्लेटू) की संज्ञा दी है । इस स्थिति में शिक्षक व नई प्रेरक वृत्तियों के सहयोग से सीखने की क्रिया में वृद्धि देखी जा सकती है । परन्तु एक अवस्था ऐसी भी आती है जब कोई प्रेरक वृत्ति लाभ नहीं पहुंचाती जिसे विद्यार्थी की मानसिक एवं शारीरिक सीमा के नाम से जाना जाता है। संगीत सीखना साधारणत: प्रचलित सम्प्रत्ययों से कहीं अधिक विस्तीर्ण व जटिल प्रक्रम है। वह विद्यार्थी व्यक्तित्व के कई पक्षों में, कई रुपों में निरन्तर चलता रहता है, अत: इतने विस्तृत एवं संश्लिष्ट सम्प्रत्यय की एक सीमित परिभाषा करना उसके व्यापक निहितार्थों को एक संकीर्ण परिसीमा में आबद्ध कर देना मात्र होगा ।

संगीत सीखने की प्रक्रिया में सबसे बड़ा उत्तरदायित्व शिक्षक का होता है, जो कि अपने ज्ञान और अवबोध से शिक्षार्थियों के क्रियाकलापों को निर्देशित व संचालित कर अधिगम को अधिकतम सफल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । संगीत एक प्रायोगिक कला है जो कि मौखिक परम्परा से हमें विरासत में प्राप्त हुई है जिसे सिर्फ संगीत किताबों से पढ़कर नहीं सीखा जा सकता, जिसके सही अभ्यास के लिए भी गुरु का मार्गदर्शन आवश्यक है। कब, कितना गाना है। इसका ज्ञान भी होना आवश्यक है । प्राय: छ: वर्ष की आयु वाले बालकों के लिए ध्वनि विस्तार एक सप्तक तक बढ़ाना चाहिये । तेरह से पंद्रह वर्ष की आयु में आवाज परिवर्तन (लड़कों) के समय अधिक रियाज नहीं करना चाहिये । स्वयं का गाना आलोचनात्मक रूप से सुनने की आदत डालना, आकार ईकार, ओमकार से 'सा' पर विश्रान्ति सिखाना, अभ्यास केवल शारीरिक नहीं, साधना (मानसिक) होनी चाहिये, इत्यादि बहुत से ऐसे तत्व हैं जो शिक्षक के सान्निध्य में ही फलीभूत होते हैं। ऐसे गुरूतर उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिये केवल प्रशिक्षित अध्यापक ही नियुक्त होने चाहिये । प्रारंभिक संगीत शिक्षण की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए विश्वविद्यालयों को ऐसे पाठ्यक्रम बनाने चाहिये जिन्हें कोई भी शिक्षक प्राप्त कर सके । इस प्रकार के बेसिक म्यूजिक कोर्स से प्राप्त उपयुक्त शैक्षणिक सामग्री से वे अपने दायित्व का सफल निर्वाह कर सकेंगे । जब संगीत शिक्षक की योग्यता का आकलन उसकी अन्य विषयों को भी पढ़ा पाने की पात्रता के हिसाब से होता है तो फिर क्यों नहीं दूसरे शिक्षकों को भी संगीत के बुनियादी शिक्षण में निष्णात होना चाहिए । प्रारंभिक शिक्षकों से ऐसी अपेक्षा रखना असामान्य नहीं है । ◆